

इत्याकर्ण्य तमानम्य श्रेष्ठिनं गुणशालिनम्। कोट्टपालजनाः शीघ्रं स्वस्थानं ते गतास्ततः ॥३०॥
 श्रेष्ठी तस्मात्समादाय तं मणिं तेजसा युतम्। एकान्ते तं प्रति प्राह दुराचारसमन्वितम् ॥३१॥
 रे रे नष्ट महाकष्ट धिक्ते पापिष्ठ चेष्टितम्। अन्यायेन रतो मूढो दुर्गतिं यास्यसि ध्रुवम् ॥३२॥
 ये कृत्वा पातकं पापाः पोषयन्ति स्वकं भुवि। त्यक्त्वा न्यायक्रमं तेषां महादुःखं भवार्णवे ॥३३॥
 कुमार्गकलितो लोकः क्षयं याति न संशयः। तीव्रतृष्णातुरः प्राणी त्वदृशः पापपण्डितः ॥३४॥
 इत्यादिदुर्वचोवज्र-पातेनैव निहत्य च। चक्रे निष्कासनं तस्य स्वस्थानात्स गुणाकरः ॥३५॥
 एवमन्यो महाभव्यो दुर्जनासक्तलम्पटैः। दर्शनस्यागते दोषे कुर्यादाच्छादनं श्रिये ॥३६॥
 विमलतरजिनेन्द्रप्रोक्तमार्गेण दोषं वदति विगतबुद्धिर्यस्तु सोस्ति प्रमत्तः।
 अमृतरससमानं शर्करादुग्धपानं कटु भवति न किं वा दुष्टपित्तज्वराणाम् ॥३७॥
 इति कथाकोशे उपगूहनाङ्गे जिनेन्द्रभक्तस्य कथा समाप्ता।

११. श्रीवारिषेणमुनेः कथा

श्रीमज्जिनं जगत्पूज्यं नत्वा भक्त्या प्रवच्यहम्। सुस्थितिकरणाङ्गे च वारिषेणस्य सत्कथाम् ॥१॥

आपने बहुत बुरा किया जो एक तपस्वी को चोर बतला दिया। रत्न तो ये मेरे कहने से लाये हैं। आप नहीं जानते कि ये बड़े सच्चरित्र साधु हैं? अस्तु। आगे से ध्यान रखिये। जिनेन्द्रभक्त के वचनों को सुनते ही सब सिपाही लोग ठण्डे पड़ गए और उन्हें नमस्कार कर चलते बने ॥२४-३०॥

जब सब सिपाही चले गए तब जिनेन्द्रभक्त ने क्षुल्लक जी से रत्न लेकर एकान्त में उनसे कहा— बड़े दुःख की बात है कि तुम ऐसे पवित्र वेष को धारण कर उसे ऐसे नीच कर्मों से लजा रहे हो? तुम्हें यही उचित है क्या? याद रखो, ऐसे अनर्थों से तुम्हें कुगतियों में अनन्त काल दुःख भोगना पड़ेंगे। शास्त्रकारों ने पापी पुरुषों के लिए लिखा है कि— ॥३१-३२॥

अर्थात्—जो पापी लोग न्यायमार्ग को छोड़कर और पाप के द्वारा अपना निर्वाह करते हैं, वे संसार समुद्र में अनन्त काल दुःख भोगते हैं। ध्यान रखो कि अनीति से चलने वाले और अत्यन्त तृष्णावान् तुम सरीखे पापी लोग बहुत ही जल्दी नाश को प्राप्त होते हैं। तुम्हें उचित है, तुम बड़ी कठिनता से प्राप्त हुए इस मनुष्य जन्म को इस तरह बर्बाद न कर कुछ आत्म हित करो। इस प्रकार शिक्षा देकर जिनेन्द्रभक्त ने अपने स्थान से उसे अलग कर दिया ॥३३-३५॥

इसी प्रकार और भी भव्य पुरुषों को, दुर्जनों के मलिन कर्मों से निन्दा को प्राप्त होने वाले सम्यग्दर्शन की रक्षा करनी उचित है। जिनभगवान् का शासन पवित्र है, निर्दोष है, उसे जो सदोष बनाने की कोशिश करते हैं, वे मूर्ख हैं, उन्मत्त हैं। ठीक भी है उन्हें वह निर्दोष धर्म अच्छा जान भी नहीं पड़ता। जैसे पित्तज्वर वाले को अमृत के समान मीठा दूध भी कड़वा ही लगता है ॥३६-३७॥

११. वारिषेण मुनि की कथा

मैं संसारपूज्य जिनभगवान् को नमस्कार कर श्रीवारिषेण मुनि की कथा लिखता हूँ, जिन्होंने

अथेह मगधदेशे निवेशे सारसम्पदाम्। पुरे राजगृहे नाम्ना सददृष्टिः श्रेणिकः प्रभुः ॥२॥
तद्राज्ञी चेलना नाम्ना सम्यक्त्वव्रतशालिनी। वारिषेणस्तयोः पुत्रः संजातेः श्रावकोत्तमः ॥३॥
एकदासौ चतुर्दश्यां रात्रौ तत्त्वविदाम्बरः। श्मशाने सोपवासश्च कायोत्सर्गेण संस्थितः ॥४॥
तस्मिन्नेव दिने क्रीडां कर्तुं मगधसुन्दरी। विलासिनी वनं प्राप्ता श्रीकीर्तिः श्रेष्ठिनो गले ॥५॥
दृष्ट्वा हारं द्युतिस्फारं निस्सारं जन्म मे भुवि। विना हारेण चैतेन सञ्चिन्त्येति गृहं गता ॥६॥
सुदुःखिता स्थिता यावत्तावद्रात्रौ समागतः। विद्युच्चोरस्तदासक्तः संविलोक्य जगाद च ॥७॥
हे प्रिये त्वं स्थिता कष्टं कस्मात्तद् ब्रूहि कारणम्। तयोक्तं श्रेष्ठिनो हारं श्रीकीर्तिर्विलसत्प्रभम् ॥८॥
समानीय ददास्येव यदि त्वं प्राणवल्लभ। अस्ति मे जीवितं भर्ता भवस्यत्र च नान्यथा ॥९॥
तच्छ्रुत्वा तां समुद्धीर्य तस्करः साहसोद्धतः। गत्वा रात्रौ गृहीत्वा च तं हारं निजबुद्धितः ॥१०॥
मार्गे तत्तेजसा ज्ञात्वा समागच्छंश्च तस्करः। कोट्टपालैस्तथा धर्तुं प्रारब्धो गृहरक्षकैः ॥११॥

सम्यग्दर्शन के स्थितिकरण नामक अंग का पालन किया है। अपनी सम्पदा से स्वर्ग को नीचा दिखाने वाले मगधदेश के अन्तर्गत राजगृह नाम का एक सुन्दर शहर था। उसके राजा थे श्रेणिक। वे सम्यग्दृष्टि थे, उदार थे और राजनीति के अच्छे विद्वान् थे। उनकी महारानी का नाम चेलना था। वह भी सम्यक्त्वरूपी अमोल रत्न से भूषित थी, बड़ी धर्मात्मा, सती और विदुषी थी। उसके एक पुत्र था। उसका नाम था वारिषेण। वारिषेण बहुत गुणी था, धर्मात्मा श्रावक था एक बार सत्य को जानने वाला यह वारिषेण चतुर्दशी की रात्रि में उपवास सहित कायोत्सर्ग से श्मशान में स्थित था। एक दिन मगधसुन्दरी नाम की एक वेश्या राजगृह के उपवन में क्रीड़ा करने को आई हुई थी। उसने वहाँ श्रीकीर्ति नामक सेठ के गले में एक बहुत ही सुन्दर रत्नों का हार पड़ा हुआ देखा। उसे देखते ही मगधसुन्दरी उसके लिए लालायित हो उठी। उसे हार के बिना अपना जीवन निरर्थक जान पड़ने लगा। सारा संसार उसे हारमय दिखने लगा। वह उदास मुँह घर पर लौट आई। रात के समय उसका प्रेमी विद्युत्चोर जब घर पर आया तब उसने मगधसुन्दरी को उदास मुँह देखकर बड़े प्रेम से पूछा—प्रिये! आज मैं तुम्हें उदास देखता हूँ, क्या इसका कारण तुम बतलाओगी? तुम्हारी यह उदासी मुझे अत्यन्त दुःखी कर रही है ॥२-८॥

मगधसुन्दरी विद्युत् पर कटाक्षबाण चलाते हुए कहा—प्राणवल्लभ! तुम मुझे इतना प्रेम करते हो, पर मुझे तो जान पड़ता है कि यह सब तुम्हारा दिखाऊ प्रेम है और सचमुच तुम्हारा यदि मुझ पर प्रेम है तो कृपाकर श्रीकीर्ति सेठ के गले का हार, जिसे आज मैंने बगीचे में देखा है और जो बहुत ही सुन्दर है, लाकर मुझे दीजिये; जिससे मेरी इच्छा पूरी हो। तब ही मैं समझूँगी कि आप मुझ से सच्चा प्रेम करते हैं और तब ही मेरे प्राणवल्लभ होने के अधिकारी हो सकेंगे ॥९॥

मगधसुन्दरी के जाल में फँसकर उसे इस कठिन कार्य के लिए भी तैयार होना पड़ा। वह उसे सन्तोष देकर उसी समय वहाँ से चल दिया और श्रीकीर्ति सेठ के महल पर पहुँचा। वहाँ से वह श्रीकीर्ति के शयनागार में गया और अपनी कार्यकुशलता से उसके गले में से हार निकाल लिया और बड़ी फुर्ती

तदा पलायितुं तेभ्यो न समर्थः स पापधीः। वारिषेणकुमाराग्रे तं धृत्वाऽदृश्यतां गतः ॥१२॥
 दृष्ट्वा ते तं तथाभूतं कोट्टपालादयो जगुः। नृपस्याग्रे कुमारोऽयं तस्करश्चेति भो प्रभो ॥१३॥
 तच्छ्रुत्वा श्रेणिको भूपो महाकोपेन कम्पितः। पश्य भो पापिनश्चास्य दुश्चरित्रं दुरात्मनः ॥१४॥
 क्व श्मशाने महाध्यानं वञ्चनं क्व च कष्टदम्। लोकानां किं न कुर्वन्ति वञ्चने ये तु चञ्चवः ॥१५॥
 यौवराज्ये मया प्राज्ये स्थापनीयो महोत्सवैः। स चेदीदृग्विधः पुत्रः किं नु कष्टमतः परम् ॥१६॥
 इत्युक्त्वासौ कुमारस्य मस्तकच्छेदनाय वै। आदेशं दत्तवांस्तूर्णं तेषां दुष्कर्मकारिणाम् ॥१७॥
 नृपादेशात्समादाय श्मशाने मिलितास्ततः। चण्डालश्चण्डकर्माणश्चौराणां प्राणहारिणः ॥१८॥
 तदैकेन गले तस्य वारिषेणस्य पापिना। गृहीतुं मस्तके क्षिप्तस्तीक्ष्णः खड्गः लसद्युतिः ॥१९॥

के साथ वहाँ से चल दिया। हार के दिव्य तेज को वह नहीं छुपा सका। सो भागते हुए उसे सिपाहियों ने देख लिया। वे उसे पकड़ने को दौड़े। वह भागता हुआ श्मशान की ओर निकल आया। वारिषेण इस समय श्मशान में कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे। सो विद्युत्चोर मौका देखकर पीछे आने वाले सिपाहियों के पंजे से छूटने के लिए उस हार को वारिषेण के आगे पटक कर वहाँ से भाग खड़ा हुआ। इतने में सिपाही भी वहीं आ पहुँचे, जहाँ वारिषेण को हार के पास खड़ा देखकर भौचक्के से रह गए। वे उसे उस अवस्था में देखकर हँसे और बोले—वाह, चाल तो खूब खेली गई? मानों हम कुछ जानते ही नहीं। तुझे धर्मात्मा जानकर हम छोड़ जायेंगे। पर याद रखिये हम अपने मालिक की सच्ची नौकरी करते हैं। हम तुम्हें कभी नहीं छोड़ेंगे यह कहकर वे वारिषेण को बाँधकर श्रेणिक के पास ले गए और राजा से बोले—महाराज, ये हार चुराकर लिए जा रहा था, सो हमने इन्हें पकड़ लिया ॥१०-१३॥

सुनते ही श्रेणिक का चेहरा क्रोध के मारे लाल सुर्ख हो गया, उनके ओठ काँपने लगे, आँखों से क्रोध की ज्वालाएँ निकलने लगीं। उन्होंने गरज कर कहा—देखो, इस पापी का नीच कर्म जो श्मशान में जाकर ध्यान करता है और लोगों को, यह बतलाकर कि मैं बड़ा धर्मात्मा हूँ, ठगता है, धोखा देता है। पापी! कुल कलंक! देखा मैंने तेरा धर्म का ढोंग! सच है—दुराचारी, लोगों को धोखा देने के लिए क्या-क्या अनर्थ नहीं करते? जिसे मैं राज्यसिंहासन पर बिठाकर संसार का अधीश्वर बनाना चाहता था, वह इतना नीच होगा? इससे बढ़कर और क्या कष्ट हो सकता है? अच्छा जो इतना दुराचारी है और प्रजा को धोखा देकर ठगता है उसका जीवित रहना सिवा हानि के लाभदायक नहीं हो सकता इसलिए जाओ इसे ले जाकर मार डालो ॥१४-१७॥

अपने खास पुत्र के लिए महाराज की ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर सब चित्र लिखे से होकर महाराज की ओर देखने लगे। सबकी आँखों में पानी भर आया। पर किस की मजाल जो उनकी आज्ञा का प्रतिवाद कर सके। जल्लाद लोग उसी समय वारिषेण को बध्यभूमि में ले गए। उनमें से एक ने तलवार खींचकर बड़े जोर से वारिषेण की गर्दन पर मारी, पर यह क्या आश्चर्य? जो उसकी गर्दन पर

तदा तत्पुण्यमाहात्म्यात्स खड्गः संपतन्नपि। पश्यत्सु सर्वलोकेषु पुष्पमाला बभूव च ॥२०॥
 अहो पुण्येन तीव्राग्निर्जलत्वं याति भूतले। समुद्रः स्थलतामेति दुर्विषं च सुधायते ॥२१॥
 शत्रुर्मित्रत्वमाप्नोति विपदा सम्पदायते। तस्मात्सुखैषिणो भव्याः पुण्यं कुर्वन्तु निर्मलम् ॥२२॥
 पुण्यं श्रीमज्जिनेन्द्राणां पादपद्मद्वयार्चनम्। पात्रदानं तथा शील-रक्षणं सोपवासकम् ॥२३॥
 तदाश्चर्यं समालोक्य सन्तुष्टास्ते सुरासुराः। अहो पुण्यमहोपुण्यं कुर्वन्तश्चेति संस्तवम् ॥२४॥
 भ्रमद्भृङ्गसमाकीर्णां सुगन्धीकृतदिङ्मुखाम्। तस्योपरि महाभक्त्या पुष्टवृष्टिं प्रचक्रिरे ॥२५॥
 पौरा ये तु महाशूराः परमानन्दनिर्भराः। साधु भो वारिषेणात्र चरित्रं ते मनोहरम् ॥२६॥
 त्वं हि श्रीमज्जिनेन्द्राणां पादपङ्कजषट्पदः। श्रावकाचारशुद्धात्मा जिनधर्मविचक्षणः ॥२७॥
 इत्यादिभिः शुभैर्वाक्यैर्महाधर्मानुरागतः। चक्रुस्ते संस्तुतिं तस्य सुपुण्यात्किं न जायते ॥२८॥
 श्रेणिकोपि महाराजः श्रुत्वा तद्वृत्तमद्भुतम्। पश्चात्तापेन सन्तप्तो हा मया किं कृतं वृथा ॥२९॥
 ये कुर्वन्ति जडात्मानः कार्यं लोकेऽविचार्य च। ते सीदन्ति महान्तोपि मादृशा दुःखसागरे ॥३०॥

बिल्कुल घाव नहीं हुआ किन्तु वारिषेण को उल्टा यह जान पड़ा-मानो किसी ने उस पर फूलों की माला फेंकी है। जल्लाद लोग देखकर दाँतों में अँगुली दबा गए। वारिषेण के पुण्य ने उसकी रक्षा की। सच है- ॥१८-२०॥

पुण्य के उदय से अग्नि जल बन जाती है, समुद्र स्थल हो जाता है, विष अमृत हो जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है और विपत्ति सम्पत्ति के रूप में परिणत हो जाती है। इसलिए जो लोग सुख चाहते हैं, उन्हें पवित्र कार्यों द्वारा सदा पुण्य उत्पन्न करना चाहिए ॥२१-२२॥

जिनभगवान् की पूजा करना, दान देना, व्रत-उपवास करना, सदा विचार पवित्र और शुद्ध रखना, परोपकार, हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापकर्मों का न करना ये पुण्य उत्पन्न करने के कारण हैं ॥२३॥

वारिषेण की यह हालत देखकर सब उसकी जय जयकार करने लगे। देवों ने प्रसन्न होकर उस पर सुगंधित फूलों की वर्षा की। नगरवासियों को इस समाचार से बड़ा आनन्द हुआ। सबने एक स्वर से कहा कि, वारिषेण तुम धन्य हो, तुम वास्तव में साधु पुरुष हो, तुम्हारा चरित्र बहुत निर्मल है, तुम जिनभगवान् के सच्चे सेवक हो, तुम पवित्र पुरुष हो, तुम जैनधर्म के सच्चे पालन करने वाले हो। पुण्य-पुरुष, तुम्हारी जितनी प्रशंसा की जाये उतनी थोड़ी है। सच है, पुण्य से क्या नहीं होता? श्रेणिक ने जब इस अलौकिक घटना का हाल सुना तो उन्हें भी अपने अविचार पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे दुःखी होकर बोले- ॥२४-२९॥

जो मूर्ख लोग आवेश में आकर बिना विचारे किसी काम को कर बैठते हैं, वे फिर बड़े भी क्यों न हों, उन्हें मेरी तरह दुःख ही उठाने पड़ते हैं। इसलिए चाहे कैसा ही काम क्यों न हो, उसे बड़े विचार के साथ करना चाहिए। श्रेणिक बहुत कुछ पश्चात्ताप करके पुत्र के पास श्मशान में आए। वारिषेण

इत्यालोच्य समागत्य श्मशाने भूरिभीतिदे। अहो पुत्र मयाज्ञान-शून्येनात्र विनिर्मितम् ॥३१॥
 यत्र त्वया महाधीरः क्षम्यतामिति वाग्भरैः। तं पुत्रं विनियोपेतं सत्क्षमां नयति स्म सः ॥३२॥
 चन्दनं घृष्ट्यमाणं च दह्यमानो यथागुरुः। न याति विक्रियां साधुः पीडितोपि तथापरैः ॥३३॥
 ततो लब्धभयो विद्युच्चोरश्चागत्य भूपतिम्। नत्वा जगाद वृत्तान्तं स्वकीयं सुभटः स्फुटम् ॥३४॥

की पुण्यमूर्ति को देखते ही उनका हृदय पुत्र प्रेम से भर आया। उनकी आँखों से आँसू बह निकले। उन्होंने पुत्र को छाती से लगाकर रोते-रोते कहा-प्यारे पुत्र, मेरी मूर्खता को क्षमा करो! मैं क्रोध के मारे अन्धा बन गया था, इसलिए आगे पीछे का कुछ सोच विचार न कर मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया। पुत्र, पश्चाताप से मेरा हृदय जल रहा है, उसे अपने क्षमारूपी जल से बुझाओ! दुःख के समुद्र में मैं गोते खा रहा हूँ, मुझे सहारा देकर निकालो! ॥३०-३१॥

अपने पूज्य पिता की यह हालत देखकर वारिषेण को बड़ा कष्ट हुआ। वह बोला-पिताजी, आप यह क्या कहते हैं? आप अपराधी कैसे? आपने तो अपने कर्तव्य का पालन किया है और कर्तव्य पालन करना कोई अपराध नहीं है। मान लीजिए कि यदि आप पुत्र-प्रेम के वश होकर मेरे लिए ऐसे दण्ड की आज्ञा न देते, तो उससे प्रजा क्या समझती? चाहे मैं अपराधी नहीं भी था तब भी क्या प्रजा इस बात को देखती? वह तो यही समझती कि आपने मुझे अपना पुत्र जानकर छोड़ दिया। पिताजी, आपने बहुत ही बुद्धिमानी और दूरदर्शिता का काम किया है। आप की नीतिपरायणता देखकर मेरा हृदय आनन्द के समुद्र में लहरें ले रहा है। आपने पवित्र वंश की आज लाज रख ली। यदि आप ऐसे समय में अपने कर्तव्य से जरा भी खिसक जाते, तो सदा के लिए अपने कुल में कलंक का टीका लग जाता। इसके लिए तो आपको प्रसन्न होना चाहिए न कि दुःखी। हाँ इतना जरूर हुआ कि मेरे इस समय पापकर्म का उदय था; इसलिए मैं निरपराधी होकर भी अपराधी बना। पर इसका मुझे कुछ खेद नहीं क्योंकि- ॥३२॥

अवश्य ह्यनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्—वादीभसिंह

अर्थात्—जो जैसा कर्म करता है उसका शुभ या अशुभ फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। फिर मेरे लिए कर्मों का फल भोगना कोई नई बात नहीं है।

पुत्र के ऐसे उन्नत और उदार विचार सुनकर श्रेणिक बहुत आनन्दित हुए। वे सब दुःख भूल गए। उन्होंने कहा, पुत्र सत्पुरुषों ने बहुत ठीक लिखा है—

चन्दन को कितना भी घिसिये, अगुरु को खूब जलाइये, उससे उनका कुछ न बिगड़कर उल्टा उनमें से अधिक-अधिक सुगन्ध निकलेगी। उसी तरह सत्पुरुषों को दुष्ट लोग कितना ही सतावें, कितना ही कष्ट दें, पर वे उससे कुछ भी विकार को प्राप्त नहीं होते, सदा शान्त रहते हैं और अपनी बुराई करने वाले का भी उपकार ही करते हैं ॥३३॥

वारिषेण के पुण्य का प्रभाव देखकर विद्युत्चोर को बड़ा भय हुआ। उसने सोचा कि राजा को मेरा हाल मालूम हो जाने से वे मुझे बहुत कड़ी सजा देंगे। इससे यही अच्छा है कि मैं स्वयं ही जाकर

इदं मे चेष्टितं देव वेश्यासक्तस्य पापिनः। वारिषेणस्तु पुत्रस्ते शुद्धात्मा श्रावकोत्तमः ॥३५॥
तदा श्रीश्रेणिकः प्राह स्वपुत्रं प्रति सादरम्। आगच्छ पुत्र गच्छावः स्वगेहं सम्पदाभृतम् ॥३६॥
तेनोक्तं भो मया तात दृष्टं संसारचेष्टितम्। अतो मे श्रीजिनेन्द्राणां शरणं चरणद्वयम् ॥३७॥
भोक्तव्यं पाणिपात्रेण कर्त्तव्यं स्वात्मनो हितम्। गन्तव्यं च वने नित्यं स्थातव्यं मुनिमार्गतः ॥३८॥
इत्युक्त्वा वारिषेणोसौ संविरक्तो भवादितः। सूरदेवमुनेः पार्श्वे जैनीं दीक्षां गृहीतवान् ॥३९॥
ततोसौ श्रीजिनेन्द्रोक्त-महाचारित्रतत्परः। कुर्वन्विहारमत्युच्चैर्भव्यान्सम्बोधयन्मुनिः ॥४०॥
ग्रामं पलासकूटाख्यं संप्राप्तश्चैकदा सुधीः। श्रेणिकस्य महीभर्तु-मन्त्री तत्रास्ति भूतिवाक् ॥४१॥

उनसे सब सच्चा-सच्चा हाल कह दूँ। ऐसा करने से वे मुझे क्षमा भी कर सकेंगे। यह विचार कर विद्युत्चोर महाराज के सामने जा खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर उनसे बोला-प्रभो, यह सब पापकर्म मेरा है। पवित्रात्मा वारिषेण सर्वथा निर्दोष है। पापिनी वेश्या के जाल में फँसकर ही मैंने यह नीच काम किया था; पर आज से मैं कभी ऐसा काम नहीं करूँगा। मुझे दया करके क्षमा कीजिए ॥३४-३५॥

विद्युत्चोर को अपने कृतकर्म के पश्चात्ताप से दुःखी देख श्रेणिक उसे अभय देकर अपने प्रिय पुत्र वारिषेण से बोले-पुत्र, अब राजधानी में चलो, तुम्हारी माता तुम्हारे वियोग से बहुत दुःखी हो रही होंगी ॥३६॥

उत्तर में वारिषेण ने कहा-पिताजी, मुझे क्षमा कीजिए। मैंने संसार की लीला देख ली। मेरी आत्मा उसमें और प्रवेश करने के लिए मुझे रोकती है। इसलिए मैं अब घर पर न जाकर जिनभगवान् के चरणों का आश्रय ग्रहण करूँगा। सुनिये, अब मेरा कर्त्तव्य होगा कि मैं हाथ ही में भोजन करूँगा, सदा वन में रहूँगा और मुनि मार्ग पर चलकर अपना आत्महित करूँगा। मुझे अब संसार में घूमने की इच्छा नहीं, विषयवासना से प्रेम नहीं। मुझे संसार दुःखमय जान पड़ता है, इसलिए मैं जान-बूझकर अपने को दुःखों में फँसाना नहीं चाहता क्योंकि-

निजे पाणौ दीपे लसति भुवि कूपे निपततां फलं किं तेन स्यादिति-जीवंधर चम्पू

अर्थात्-हाथ में प्रदीप लेकर भी यदि कोई कुएँ में गिरना चाहे, तो बतलाइए उस दीपक से क्या लाभ? जब मुझे दो अक्षरों का ज्ञान है और संसार की लीला से मैं अपरिचित नहीं हूँ; इतना होकर भी फिर मैं यदि उसमें फँसू, तो मुझसा मूर्ख और कौन होगा? इसलिए आप मुझे क्षमा कीजिए कि मैं आपकी पालनीय आज्ञा का भी बाध्य होकर विरोध कर रहा हूँ। यह कहकर वारिषेण फिर एक मिनट के लिए भी न ठहर कर वन की ओर चल दिया और श्रीसूरदेव मुनि के पास जाकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली ॥३७-३९॥

तपस्वी बनकर वारिषेण मुनि बड़ी दृढ़ता के साथ चारित्र का पालन करने लगे। वे अनेक देश-विदेशों में घूम-घूम कर धर्मोपदेश करते हुए एक बार पलाशकूट नामक शहर में पहुँचे। वहाँ श्रेणिक

तत्पुत्रः पुष्पडालाख्यो दानपूजापरायणः। दृष्ट्वा चर्यार्थमायातं तं मुनिं गुणशालिनम् ॥४२॥
 ससंभ्रमं समुत्थाय तिष्ठ तिष्ठेति सम्बदन्। संस्थाप्य नवभिः पुण्यैः सप्तभिः स्वगुणैर्युतः ॥४३॥
 प्रासुकं सरसाहारं भक्तितः परया मुदा। स तस्मै दत्तवान्दाता सुपात्राय सुखप्रदम् ॥४४॥
 पुष्पडालस्ततो राज-पुत्रत्वाद्दालमित्रतः। भक्तितश्च तथा सार्धं मुनिना तेन गच्छता ॥४५॥
 सोमिल्यां स्वस्त्रियं पृष्ठा सोनुव्रजनहेतवे। स्तोकमार्गं समादाय कुण्डिकां निर्गतो गृहात् ॥४६॥
 पश्चादागन्तुकामोसौ मंत्रिपुत्रो जगौ पथि। पश्य देव पुरावाभ्यां क्रीडितं सरसीह च ॥४७॥
 सच्छायः सफलस्तुङ्गो जनानां सौख्यदायकः। सुराजेव विभात्युच्चैः-रयं चाग्रतरुः पुरः ॥४८॥
 यत्रावाभ्यां समागत्य पूर्वं क्रीडा विनिर्मिता। शोभतेयं महीदेशो विस्तीर्णो वा सतां मनः ॥४९॥
 इत्यादिकं मुहुश्चिह्नं दर्शयन्प्रणमन्मुनः। तच्चित्तं जानताप्युच्चैः स्वामिना तेन सादरम् ॥५०॥
 धृत्वा करे सुवैराग्यं नीत्वा सत्तत्त्ववाग्भरैः। कृत्वा धर्मश्रुतिं जैनीं दीक्षां संग्राहितः सखा ॥५१॥
 पठन्नपि महाशास्त्रं पालयन्नपि संयमम्। सोमिल्यां भामिनीं काणीं स्मरत्येव नवव्रती ॥५२॥

का मन्त्री अग्निभूति रहता था। उसका एक पुष्पडाल नाम का पुत्र था। वह बहुत धर्मात्मा था और दान, व्रत, पूजा आदि सत्कर्मों के करने में सदा तत्पर रहा करता था। वह वारिषेण मुनि को भिक्षार्थ आए हुए देखकर बड़ी प्रसन्नता के साथ उनके सामने गया और भक्तिपूर्वक उनका आह्वान कर उसने नवधा भक्ति सहित उन्हें प्रासुक आहार दिया। आहार करके जब वारिषेण मुनि वन में जाने लगे तब पुष्पडाल भी कुछ तो भक्ति से, कुछ बालपने की मित्रता के नाते से और कुछ राजपुत्र होने के लिहाज से उन्हें थोड़ी दूर पहुँचाने के लिए अपनी स्त्री से पूछकर उनके पीछे-पीछे चल दिया। वह दूर तक जाने की इच्छा न रहते हुए भी मुनि के साथ-साथ चलता गया क्योंकि उसे विश्वास था कि थोड़ी दूर जाने के बाद ये मुझे लौट जाने के लिए कहेंगे ही। पर मुनि ने उसे कुछ नहीं कहा, तब उसकी चिन्ता बढ़ गई उसने मुनि को यह समझाने के लिए, कि मैं शहर से बहुत दूर निकल आया हूँ, मुझे घर पर जल्दी लौट जाना है, कहा-कुमार, देखते हैं यह वहीं सरोवर है, जहाँ हम आप खेला करते थे; यह वही छायादार और उन्नत आम का वृक्ष है, जिसके नीचे आप हम बाललीला का सुख लेते थे और देखो, यह वही विशाल भूभाग है, जहाँ मैंने और आपने बालपन में अनेक खेल खेले थे इत्यादि अपने पूर्व परिचित चिह्नों को बार-बार दिखलाकर पुष्पडाल ने मुनि का ध्यान अपने दूर निकल आने की ओर आकर्षित करना चाहा, पर मुनि उसके हृदय की बात जानकर भी उसे लौट जाने को न कह सके। कारण, वैसा करना उनका मार्ग नहीं था। इसके विपरीत उन्होंने पुष्पडाल के कल्याण की इच्छा से उसे खूब वैराग्य का उपदेश देकर मुनिदीक्षा दे दी। पुष्पडाल मुनि हो गया, संयम का पालन करने लगा और खूब शास्त्रों का अभ्यास करने लगा; पर तब भी उसकी विषयवासना न मिटी, उसे अपनी स्त्री की बार-बार याद आने लगी। आचार्य कहते हैं कि- ॥४०-५२॥

धिक्कामं धिङ्महामोहं धिङ्भोगान्यैस्तु वञ्चितः । सम्मार्गेऽपि स्थितो जन्तुर्न जानाति निजं हितम् ॥५३॥
ततो द्वादशवर्षाणि तत्तपःसिद्धिहेतवे । गुरुस्तं कारयामास तीर्थयात्रां निजैः सह ॥५४॥
एकदा तौ मुनी श्रीमद्वर्धमानजिनेशिनः । समवादिसृतिं प्राप्तौ चक्रतुर्जिनवन्दनाम् ॥५५॥
तत्रस्थैर्जिनसद्भक्त्या सद्गन्धर्वसुधाशिभिः । गीयमानमिदं पद्यं शृणोति स्म लघुव्रती ॥५६॥
“मङ्गल कुचेली दुम्पणी णाहे पवसियएण । कह जीवेसइ धणियधर वब्भंते विरहेण ॥”
तच्छ्रुत्वा पुष्पडालोसौ मुनिः कामाग्निपीडितः । सोमिल्यासक्तचेतस्कश्चक्रे चित्तं व्रतोन्मुखम् ॥५७॥
वारिषेणेन सुज्ञात्वा मानसं तस्य तादृशम् । चचाल स्वपुरीं नीत्वा तं स्थितीकरणाय च ॥५८॥
तमागच्छन्तमालोक्य मुनीन्द्रं शिष्यसंयुतम् । चारित्राच्चलितः किं वा पुत्रोऽयं चेलना सती ॥५९॥
सञ्चिन्त्य मानसे चेति परीक्षार्थं तदा ददौ । सरागवीतरागे द्वे आसने तस्य भक्तितः ॥६०॥
वीतरागासने धीमान्संस्थितो वारिषेणवाक् । मुनीन्द्रो न तपत्येव सतां भ्रान्तिः क्रियावधौ ॥६१॥
तदामृतरसस्वादु-हारिभिवर्चनोत्करैः । मातरं तोषयामास यतीन्द्रो विनयान्विताम् ॥६२॥

उस काम को, उस मोह को, उन भोगों को धिक्कार है, जिनके वश होकर उत्तम मार्ग से चलने वाले भी अपना हित नहीं कर पाते । यही हाल पुष्पडाल का हुआ, जो मुनि होकर भी वह अपनी स्त्री को हृदय से न भुला सका ॥५३॥

इसी तरह पुष्पडाल को बारह वर्ष बीत गए । उसकी तपश्चर्या सार्थक होने के लिए गुरु ने उसे तीर्थयात्रा करने की आज्ञा दी और उसके साथ वे भी चले । यात्रा करते-करते एक दिन वे भगवान् वर्धमान के समवसरण में पहुँच गए । भगवान् को उन्होंने भक्तिपूर्वक प्रणाम किया । उस समय वहाँ गन्धर्वदेव भगवान् की भक्ति कर रहे थे । उन्होंने काम की निन्दा में एक पद्य पढ़ा । वह सब यह था— ॥५४-५६॥

“स्त्री चाहे मैली हो, कुचैली हो, हृदय की मलिन हो, पर वह भी अपने पति के प्रवासी होने पर, विदेश में रहने पर, पतिवियोग से वन-वन, पर्वतों-पर्वतों में मारी-मारी फिरती है अर्थात् काम के वश होकर नहीं करने के काम भी कर डालती है ।”

उक्त पद्य को सुनते ही पुष्पडाल मुनि भी काम से पीड़ित होकर अपनी स्त्री की प्राप्ति के लिए अधीर हो उठे । वे व्रत से उदासीन होकर अपने शहर की ओर रवाना हुए । उनके हृदय की बात जानकर वारिषेण मुनि भी उन्हें धर्म में दृढ़ करने के लिए उनके साथ-साथ चल दिये ॥५७-५८॥

गुरु और शिष्य अपने शहर में पहुँचे । उन्हें देखकर सती चेलना ने सोचा-कि जान पड़ता है, पुत्र चारित्र से चलायमान हुआ है । नहीं तो ऐसे समय इसके यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी? वह विचार कर उसने उसकी परीक्षा के लिए उसके बैठने को दो आसन दिये । उनमें एक काष्ठ का था और दूसरा रत्नजडित । वारिषेण मुनि रत्नजडित आसन पर न बैठकर काष्ठ के आसन पर बैठे । सच है-जो सच्चे मुनि होते हैं वे कभी ऐसा तप नहीं करते जिससे उनके आचरण में किसी को सन्देह हो । इसके बाद वारिषेण मुनि ने अपनी माता के सन्देह को दूर करके उनसे कहा-माता, कुछ समय के लिए मेरी

ततः प्राह मुनिर्मातर्मदीयान्तःपुरं परम्। आनीयतामिति श्रुत्वा सा सती चेलना तदा ॥६३॥
 द्वात्रिंशद्गणनोपेतास्तद्भार्या रूपमण्डिताः। सालङ्काराः समानीय दर्शयामास सद्गुणाः ॥६४॥
 कृत्वा नतिं ततस्तास्तु संस्थिताः सुयथाक्रमम्। गुरुः शिष्यं प्रति प्राह सावधानः प्रमादिनम् ॥६५॥
 यौवराज्यमिदं प्राज्यमेता मे सारसम्पदः। सर्वं गृहाण चेत्तुभ्यं रोचते भो मुने ध्रुवम् ॥६६॥
 तच्छ्रुत्वा पुष्पडालोऽसौ मुनिर्लज्जाभरान्वितः। समुत्थाय गुरोपाद-द्वयं नत्वा जगाद च ॥६७॥
 धन्यस्त्वं भो मुने स्वामिन्हतलोभमहाग्रहः। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्त-सारतत्त्वविदाम्बरः ॥६८॥
 ये कुर्वन्ति महास्तोत्रं मुक्तवैताः सारसम्पदः। त्वादृशाः सुतपस्तेषां किं लोके यच्च दुर्लभम् ॥६९॥
 सत्यं जन्मान्धकोहं च गृहीत्वा यत्तपोमणिम्। अक्षणा काणीं तु सोमिल्यां नात्यजन्निजचेतसः ॥७०॥
 त्वया द्वादशवर्षाणि तपश्चक्रे सुनिर्मलम्। मया मूर्खेण तत्रैव तत्कृतं शल्यकश्मलम् ॥७१॥
 अतोपराधिनो मे च प्रायश्चित्तं प्रदीयताम्। भवद्भिः करुणासारैर्यतो पापक्षयो भवेत् ॥७२॥
 तदासौ वारिषेणश्च मुनीन्द्रो निश्चलव्रतः। संजगाद् वचो धीमान्परमानन्ददायकम् ॥७३॥
 अहो धीर महादुःखं मा कुरु त्वं स्वचेतसि। दुष्टकर्मवशाज्जीवो विद्वान् क्वापि च मुह्यति ॥७४॥

सब स्त्रियों को यहाँ बुलवा लीजिये। महारानी ने वैसा ही किया। वारिषेण की सब स्त्रियाँ खूब वस्त्राभूषणों से सजकर उनके सामने आ उपस्थित हुईं वे बड़ी सुन्दरी थीं। देवकन्यायें भी उनके रूप को देखकर लज्जित होती थीं। मुनि को नमस्कार कर वे सब उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा के लिए खड़ी रहीं ॥५९-६५॥

वारिषेण ने तब अपने शिष्य पुष्पडाल से कहा-क्यों देखते हो न? ये मेरी स्त्रियाँ हैं, यह राज्य है, यह सम्पत्ति है, यदि तुम्हें ये अच्छी जान पड़ती हैं, तुम्हारा संसार से प्रेम है, तो इन्हें तुम स्वीकार करो। वारिषेण मुनिराज का यह आश्चर्य में डालने वाला कर्तव्य देखकर पुष्पडाल बड़ा लज्जित हुआ। उसे अपनी मूर्खता पर बहुत खेद हुआ। वह मुनि के चरणों को नमस्कार कर बोला-प्रभो, आप धन्य हैं, आपने लोभरूपी पिशाच को नष्ट कर दिया है, आप ही ने जिनधर्म का सच्चा सार समझा है। संसार में वे ही बड़े पुरुष हैं, महात्मा हैं, जो आपके समान संसार की सब सम्पत्ति को लात मारकर वैरागी बनते हैं। उन महात्माओं के लिए फिर कौन वस्तु संसार में दुर्लभ रह जाती हैं? दयासागर, मैं तो सचमुच जन्मान्ध हूँ, इसीलिए तो मौलिक तपस्त्व को प्राप्त कर भी अपनी स्त्री को चित्त से अलग नहीं कर सका। प्रभो, जहाँ आपने बारह वर्ष पर्यन्त खूब तपश्चर्या की वहाँ मुझ पापी ने इतने दिन व्यर्थ गँवा दिये-सिवा आत्मा को कष्ट पहुँचाने के कुछ नहीं किया। स्वामी, मैं बहुत अपराधी हूँ इसलिए दया करके मुझे अपने पाप का प्रायश्चित्त देकर पवित्र कीजिए। पुष्पडाल के भावों का परिवर्तन और कृतकर्म के पश्चाताप से उनके परिणामों की कोमलता तथा पवित्रता देखकर वारिषेण मुनिराज बोले-धीर! इतने दुःखी न बनिये। पापकर्मों के उदय से कभी-कभी अच्छे-अच्छे विद्वान् भी हतबुद्धि हो जाते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यही अच्छा हुआ जो तुम पीछे अपने मार्ग पर

इत्युक्त्वा तं समुद्धीर्य प्रायश्चित्तं यथागमम्। दत्त्वा तत्तपसश्चेति सुस्थितीकरणं व्यधात् ॥७५॥
 पुष्पडालस्ततो धीमान्गुरुवाक्यप्रसादतः। महावैराग्यभावेन तपश्चक्रे सुदुःसहम् ॥७६॥
 इत्थं चान्येन कर्त्तव्यं सुस्थितीकरणं श्रिये। केनापि कारणेनात्र पततो धर्मपर्वतात् ॥७७॥
 येऽत्र भव्याः प्रकुर्वन्ति सुस्थितीकरणं परम्। स्वमोक्षफलदस्तैश्च सिञ्चितो धर्मपादपः ॥७८॥
 शरीरसम्पदादीना-मस्थिराणां क्वचिद्भवेत्। रक्षणं शर्मदं धर्मे का कथा शर्मकोटिदे ॥७९॥
 एवं ज्ञात्वा समुत्सृज्य प्रमादं दुःखकारणम्। कार्यं तद्धि महाभव्यैः संसाराम्भोधितारणम् ॥८०॥
 श्रीमज्जैनपदाब्जयुग्ममधुलिट् श्रीवारिषेणो मुनिर्दत्त्वा तस्य मुनेस्तपोद्रिपततो हस्तावलम्बं दृढम्।
 ज्ञानध्यानरतः प्रसिद्धमहिमा प्राप्तो वनं निर्मलं दद्यान्मे भवतारकः स भगवान्नित्यं सुखं मङ्गलम् ॥८१॥

इति कथाकोशे स्थितिकरणाङ्गे श्रीवारिषेणमुनेः कथा समाप्ता।

१२. श्रीविष्णुकुमारमुनेः कथा

श्रीजिनं भारतीं साधु-पादद्वैतं सुखप्रदम्। नत्वा विष्णुकुमारस्य वात्सल्याङ्गे कथां ब्रूवे ॥१॥

आ गए। इसके बाद उन्होंने पुष्पडाल मुनि को उचित प्रायश्चित्त देकर धर्म में स्थिर किया, अज्ञान के कारण सम्यग्दर्शन से विचलित देखकर उनका धर्म में स्थितिकरण किया ॥६६-७५॥

पुष्पडाल मुनि गुरु महाराज की कृपा से अपने हृदय को शुद्ध बनाकर बड़े वैराग्य भावों से कठिन-कठिन तपश्चर्या करने लगे, भूख-प्यास की कुछ परवाह न कर परीषह सहने लगे।

इसी प्रकार अज्ञान व मोह से कोई धर्मात्मा पुरुष धर्मरूपी पर्वत से गिरता हो, तो उसे सहारा देकर न गिरने देना चाहिए। जो धर्मज्ञ पुरुष इस पवित्र स्थितिकरण अंग का पालन करते हैं, समझो कि वे स्वर्ग और मोक्ष सुख के देने वाले धर्मरूपी वृक्ष को सींचते हैं। शरीर, सम्पत्ति, कुटुम्ब आदि अस्थिर हैं, विनाशक हैं इनकी रक्षा भी जब कभी-कभी सुख देने वाली हो जाती है तब अनन्तसुख देने वाली धर्म की रक्षा का कितना महत्त्व होगा, यह सहज में जाना जा सकता है। इसलिए धर्मात्माओं को दुःख देने वाले प्रमाद को छोड़कर संसार-समुद्र से पार करने वाले पवित्र धर्म का सेवन करना चाहिए ॥७६-८०॥

श्रीवारिषेण मुनि, जो कि सदा जिनभगवान् की भक्ति में लीन रहते थे, तप पर्वत से गिरते हुए पुष्पडाल मुनि को हाथ का सहारा देकर तपश्चर्या और ध्यानाध्ययन करने के लिए वन में चले गए, वे प्रसिद्ध महात्मा आत्मसुख प्रदान कर मुझे भी संसार-समुद्र से पार करें ॥८१॥

१२. विष्णुकुमार मुनि की कथा

अनन्त सुख प्रदान करने वाले जिनभगवान् जिनवाणी और जैन साधुओं को नमस्कार कर मैं वात्सल्य अंग के पालन करने वाले श्री विष्णुकुमार मुनिराज की कथा लिखता हूँ ॥१॥